मैं एक फेरीवाला

राही मासूम रज़ा

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली • पटना

नय्यर के नाम

—राही मासूम रज़ा

भूमिका

दोस्तों के बारे में एक अजीब आदत है मेरी। अक्सर मैं उनके बहुत-से काम, उनकी बातें, उनकी बहसें भूल जाता हूँ लेकिन उनके व्यक्तित्व की एक कोई खास सूक्ष्म-सी चीज याद रह जाती है। वह सूक्ष्म, वह अल्प चीज मेरे मन में उस दोस्त का प्यार बनकर बस जाती है, हमेशा के लिए।

इसके बावजूद कि राही की दोस्ती और दुश्मनी दोनों ही काफी कठिन चीजें हैं—बरसो पहले, राही से पहली ही मुलाकात मे दोस्ती (बल्कि दोस्ती से बढकर कुछ) का गहरा और गाढ़ा रिश्ता कायम हो गया। यह नहीं मालूम कि क्यों? उनकी कई आदतों, बहुत-से सिद्धान्तों और कुछ शखो से मेरा मेल नही बैठ पाता लेकिन राही से मेरा न सिर्फ मेल बैठता है बल्कि सोलह आने बैठता है। मिलना चाहे महीनों न हो पाये पर चित्त उनकी ओर लगा रहता है।

और वह क्या चीज है जो ऐसे मौकों पर उनके खयाल को मन में साकार बनाती रहती है? वह सूक्ष्म, वह अल्प-सी चीज है—जनाब राही, साहब का तेवर। इस तेवर को शब्द देना बहुत मुश्किल है, लेकिन उनकी जिन्दगी में और उनके लेखन मे मुझे हमेशा खास चीज लगी है यह खास किस्म का तेवर, जिसकी वजह से उनका लेखन कही भी हो, मैं पहचान सकता हूँ—"ये और कोई नही सिर्फ राही हो सकते है।"

तेवर का विश्लेषण करना कठिन काम है। लेकिन राही के सन्दर्भ में अक्सर मैंने इस तेवर को रेशा-रेशा अलग कर जाँचने की कोशिश की है। अन्दर के गहरे सैद्धान्तिक विश्वास (स्थायी जीवन-दर्शन) जब केवल वैचारिक न रह कर जिन्दगी जीने की पूरी शैली बन जाते है और अपने को उन तमाम संस्कारों से सम्बद्ध कर लेते है जो बचपन से कैशोर्य तक खानपान और आसपास के परिवेश से मिले हो—तो एक खास किस्म का तेवर व्यक्तित्व मे आ जाता है, वह तेवर ओढा हुआ नही होता। वह समूचे व्यक्ति की स्थायी अभिव्यक्ति बन

जाता है—आचरण में भी, लेखन में भी।

उनकी कविता का पाठक अगर इस तेवर को पकड़ ले तो उनकी कविता एक अजीब कशिश पैदा कर देगी उसके मन में। उनका डिक्शन, उनके छन्द, उनकी उपमाएँ, उनके बिम्ब सबमें यह तेवर जान की तरह बसा हुआ है।

□

वह तेवर कहीं बहुत मुलायम, बहुत नाज़ुक संवेदन वाला है। मसलन उनकी यह कविता 'एक पल एक सदी' पढ़िए—

पोर पोर मे मेंहदी की मीठी खुशबू के छल्ले पहने
बाल सँवारे
चंचल आँखों के पैरों में काजल की जंजीरें डाले
जब वह दरवाज़े तक आयी
दरवाज़े पर कोई नही था
धूल किसी के नक़्शे-कदम से खेल रही थी।

लगता है कोई पद्माकर या मतिराम आधुनिक मुहावरे में वाल्टर डिला मेयर के उस काव्य-स्तर को छू रहा है जहाँ समय थम जाता है और एक क्षण की घटना समय से परे की फन्तासी बन जाती है।

लेकिन यही तेवर चोट खाकर, पलटकर, तनकर खड़ा हो जाता है धधकता हुआ जब उनके मूलभूत विश्वासो पर कोई चोट करता है या उन पर वह संज्ञा लादने की कोशिश करता है जो उनके सन्दर्भ मे बुनियादी तौर पर अधूरी या असंगत है। ऐसी एक कविता—जिसे पढ़कर मैं अन्दर से कही हिल उठा था और कई दिनों तक जो मुझे बेहद बेचैन बनाये रही है—'गंगा और महादेव' है :

मेरा नाम मुसलमानों जैसा है
मुझको कत्ल करो और मेरे घर मे आग लगा दो
मेरे उस कमरे को लूटो जिसमें मेरी बयाज़ें जाग रही हैं
और मैं जिसमें तुलसी की रामायण से सरगोशी करके
कालिदास के मेघदूत से यह कहता हूँ—
"मेरा भी एक सन्देसा है"
मेरा नाम मुसलमानो जैसा है,
मुझको कत्ल करो और मेरे घर में आग लगा दो।
लेकिन मेरी रग-रग में गंगा का पानी दौड रहा है
मेरे लहू से चुल्लू भरकर महादेव के मुँह पर फेंको
और उस जोगी से यह कह दो :

महादेव
अब इस गंगा को वापस ले लो
यह ज़लील तुर्कों के बदन में गाढ़ा गर्म लहू बन-बनकर दौड़ रही है ।

□

कई रात इस कविता को पढ़कर मैं बेचैन रहा, सिर्फ इसलिए नहीं कि इसमें एक वर्तमान सामाजिक या सियासी वैषम्य पर भरपूर चोट है वरन् इसलिए कि एक अनन्त संघर्ष जो कविता के व्यापक मानवीय सत्य और बाहर के वैषम्यपूर्ण पूर्वाग्रहयुक्त समाज में व्याप्त 'मीडियाकर' यथार्थ में चलता आया है उसे जब भी किसी तेवर वाले कवि-कलाकार या चिन्तक ने पूरे आन्तरिक बल से चुनौती दी है, बेलाग बेहिचक चोट की है तब अक्सर उसको उसका अजीब मूल्य चुकाना पड़ा है । हाथी के नीचे कुचला गंग, सूली पर चढ़ा मन्सूर, देश से निर्वासित बायरन और शेली, अमरीका से बहिष्कृत चार्ली चैपलिन, रूस में कुचला हुआ पास्तरनाक । ये सिर्फ चन्द उदाहरण हैं । राही कम्बख्त जब तनकर अपने आन्तरिक कविसत्य को अपने चुल्लू-भर गंगाजल-लहू को अपने आखिरी हथियार की तरह लेकर उठ खड़ा होता है तो मुझे अपने इस प्यारे दोस्त पर जितना फ़ख्र होता है, उतनी फिक्र भी होने लगती है ।

धर्मनिरपेक्षता, देशभक्ति, भावात्मक एकता वगैरह के नाम पर खड़ीबोली की उर्दू और हिन्दी दोनों शैलियों में ढेरों गज़लें, नज्में, कविताएँ लिखी गयी हैं । इनाम अकराम भी मिले हैं । मगर बहुत कम ऐसी पंक्तियाँ मिली हैं उनमें जहाँ कवि या शायर ने उन्हें सतही ज़ेहन से दुनियावी समझबूझ के साथ न लिखकर उबलकर अपनी समूची आत्मा के साथ लिखा हो और नासमझों के मुंह पर मार दिया हो । लोग खतरा बचाकर चलते हैं, चारों ओर की फिज़ां देखकर बात करते हैं'''राही बेसाख्ता सट पडता है । बिना किसी चीज़ की परवाह किये अपनी कविता अपने सीने पर लिखकर सीना संगीनों से अड़ा देता है । अगर मैं ईश्वर पर विश्वास करता होता तो ऐसे क्षण मैं यही प्रार्थना करता कि 'प्रभु, इस दुस्साहसी की रक्षा करना क्योंकि इसकी सच्ची आवाज़ में तुम्हीं बसते हो ।' मगर किससे प्रार्थना करूँ, अगर ईश्वर है तो ये समाज में व्याप्त मिथ्या के खतरनाक व्यूह भी तो उसी की वजह से बने होंगे ।

□

अपने आन्तरिक कविसत्य को बिना किसी चीज़ की परवाह किये बेलाग दो-टूक कह देना और सिर्फ वही कहना जो आन्तरिक कविसत्य है, यह हर युग में बहुत ही असाधारण हिम्मत की बात रही है । और मजे की बात यह है कि

चरम वैयक्तिक कविसत्य ही कहीं व्यापक मानवता का मूल सत्य भी होता है। यही कवि का अपनी अतिशय वैयक्तिकता का चरम साक्षात्कार ही उसकी सामाजिक सार्थकता बन जाती है। सत्य बात कहने में बहुत पुरानी बात लगती है, लेकिन क्या करूँ कि कुछ पुरानी बातें पहले भी सच थीं, आज भी सच हैं। और वे सतही दृष्टि वाले लोग जो वैयक्तिकता के झूठे अहंकारी मुखौटों और इस गहरे आत्मसाक्षात्कार वाली सामाजिक सार्थकता वाली वैयक्तिकता के काव्य-तेवर मे भेद नहीं कर पाते—वे सभी अधकचरे तिकड़मी वामपन्थी या दक्षिण-पन्थी आलोचक तिकडमबाज़ लाल बुझक्कड से अधिक कुछ नहीं हैं, इतना निश्चित है। और इस प्रकार के तिकडमबाज लालबुझक्कड अक्सर राही को कोसते नजर आये है। देवनागरी लिपि मे भी और अरबी लिपि में भी।

राही ने लिपि के मामले में जो रुख अपनाया कि उर्दू और हिन्दी दो अलग साहित्य नहीं हैं और देवनागरी के माध्यम से दोनों की ऐतिहासिक एकता अब स्थापित हो जानी चाहिए—इसके लिए राही को उर्दू के तरक्कीपसन्द और गैरतरक्कीपसन्द दोनो किस्म के कठमुल्लो से जो विरोध सहना पड़ा है, उसका जिक्र क्या करें? और देवनागरी लिपि के माध्यम से हिन्दी कथा-साहित्य में अपने को आदरपूर्वक प्रतिष्ठित कर लेने के बाद हिन्दी के चन्द नासमझ कठ-मुल्लो की जिस आलोचना का शिकार होना पड़ा, वह भी आप जानते ही है। लेकिन राही का तेवर बरकरार है।

और अब उसी तेवर से राही अपने इस संग्रह के साथ हिन्दी कविता के क्षेत्र मे प्रवेश कर रहे है।

और इस महत्त्वपूर्ण मोड़ पर हिन्दी-उर्दू कविता की स्थिति और उसमे इस कवि की साहित्यिक पृष्ठभूमि समझ लेनी जरूरी है ताकि इन कविताओ का और आगे देवनागरी लिपि में आनेवाली तमाम समकालीन उर्दू कविता का मूल्यांकन करने मे सही दिशानिर्देश मिल सके।

कविता का विशेष तौर से इसलिए कि हिन्दी-उर्दू के सन्दर्भ मे कथा और काव्य इन दोनों विधाओ की ऐतिहासिक स्थिति थोडी अलग रही है। आधु-निक कथा-साहित्य हिन्दी और उर्दू दोनों मे खडीबोली मे शुरू हुआ। करीब-करीब एक ही समय से शुरू हुआ। उसकी आरम्भिक भाषा-शैली करीब-करीब एक-सी है। यहाँ तक कि देवकीनन्दन खत्री की चन्द्रकान्ता पढ़ने के लिए जिन उर्दूदाँ पाठकों ने हिन्दी सीखी उन्हें सिर्फ हिन्दी लिपि सीखनी पडी क्योंकि भाषा तो चन्द्रकान्ता की वही थी, शब्दसमूह वही था। उसे अरबी लिपि मे पेश कर दें तो उतनी ही आसानी से वह उर्दू की कथाकृति कही जा सकती थी। उसमें भी ज्यादा

महत्त्व की घटना यह हुई कि उर्दू और हिन्दी का प्रथम महत्त्वपूर्ण कथाकार एक ही था : मुंशी प्रेमचन्द । और उनके द्वारा प्रवर्तित कथाधारा बराबर हिन्दी में विकसित होती रही । सच बात तो यह है कि उर्दू शैली में कहानी का ही विकास हुआ। उपन्यास का अपेक्षाकृत बहुत कम । इसीलिए सामाजिक चेतना वाली भावभूमि पर नवीनतम सन्दर्भ में लिखा हुआ सशक्त उपन्यास 'आधा गाँव' जब हिन्दी में आया तो उसका महत्त्व और प्रासंगिकता पहचानने में हिन्दी पाठक, समीक्षक को न असमंजस हुआ, न देर लगी ।

कविता के मामले मे स्थिति थोड़ी अलग है । खड़ीबोली उर्दू में कविता जब शुरू हुई तो मुगल दरबार के कारण उसका काव्य-आधार राजभाषा फारसी की परम्परा बनी । जबकि उस समय हिन्दी में ज़ोर ब्रजभाषा या अवधी की कविता का था । वह परम्परा अत्यन्त समृद्ध थी । हिन्दी मे खडीबोली काव्य शुरू हुआ तो उसने अपनी ही उस अत्यन्त समृद्ध किन्तु असगत पड़ गयी काव्यपरम्परा का आधार नहीं लिया वरन् उससे विद्रोह किया ।

इस स्थिति के दिलचस्प नतीजे दोनों ओर हुए। उर्दू ने फारसी का आधार स्वीकार कर लिया था । दरबार के मँजे हुए डिक्शन को उसने अपना लिया था। उसे किसी ब्रज या अवधी से वैसा विरोध नही सहना पड़ रहा था, अतः भाषा-शैली और अभिव्यजना का मँजाव उसमे हिन्दी के खडीबोली काव्य से बहुत पहले आ गया । लेकिन दरबार और आभिजात्य वर्ग की ज़ेहनियत और डिक्शन से बहुत अधिक बँधे होने के कारण खास मोड़ पर आकर लगने लगा कि विषयवस्तु और शैली-रूप दोनों मे एक खास ढाँचे में उर्दू कविता बँध गयी है, उससे निकल पाना उसके लिए मुश्किल हो गया है । या तो उसी में गहनता और प्रगाढ़ता पाकर शिखर की ऊँचाइयों पर पहुँचकर फिर अपने पीछे और शून्य छोड जाये या सियासी दायरे में आकर बहुत बुलन्द और प्लेटफार्मी आवाज़ मे बोलने लगे । दूसरी ओर कविता के क्षेत्र मे हिन्दी खडीबोली काव्य बहुत धीमे-धीमे विकसित हुआ था, लेकिन द्विवेदी-युग से निकलकर माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के रहस्योन्मुख राष्ट्रीय काव्य के द्वार से होते हुए छायावाद को पारकर, नयी कविता के दौर में आकर अनेकों दिशाओं में अनेकों आयामों में विकास करता गया ।

राही की कविता की एक खास स्थिति है इन दोनों के बीच । और वह स्थिति ऐसी है कि उसे समझ लेने पर ही हिन्दी कविता से उनके इस नये काव्य-संकलन को उचित स्थान पर सही ढंग से जोडा जा सकेगा । जहाँ उर्दू की कविता का बँधाव बाँझपन के बिन्दु पर पहुँच गया था, वहाँ से राही ने

एक नया रास्ता तलाश करने की कोशिश की। उस समय राही उर्दू के कवि थे। हिन्दी से उनका परिचय नहीं था। यदि होता तो वे पाते कि उनके जैसे नवजवान कवि हिन्दी मे बड़े दमखम से अपने लिए वही रास्ता बना रहे हैं जिसके लिए राही उर्दू में लगभग अकेले जद्दोजहद कर रहे थे।

वह ज़माना था स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद का। और राही का कहना है कि उर्दू कविता का मुख्य संकट उसी समय शुरू हुआ। जोश जैसे लोगों का खुले-आम और फिराक, जाफरी वगैरह का कुछ दबे-ढके स्वर मे यह कहना है कि उर्दू लेखक और पाठक के समक्ष यह संकट इसलिए आया कि उर्दू की राजनीतिक स्थिति विभाजन के बाद भारत में डाँवाडोल हो गयी और हिन्दी 'राश्टर भाषा' बना दी गयी। लेकिन राही का विश्लेषण इस मामले में ज्यादा गहरा और पैना है। राही का कहना है कि उर्दू कविता में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद एक आन्तरिक संकट आया। जहनियत का और प्रतीकों का। कुछ पुरातन ढाँचों से बेहद बँधी होने के कारण उर्दू कविता उस संकट का मुंह-दर-मुंह सामना करके, वक्त के अनुरूप बदलके उसका सही समाधान नही खोज पायी, अतः उसमें एक अजीब किस्म की आन्तरिक शून्यता व्यापने लगी। राही के मतानुसार यह संकट था मूलतः प्रतीकों का संकट।

आजादी के पहले, सामाजिक और राजनीतिक चेतना की उर्दू कविता के पास कुछ निश्चित प्रतीक थे। गुलामी की रात, आज़ादी का उजाला; गुलामी की खिज़ा, आज़ादी की बहार; जेलों की कफस, देशभक्त की बुलबुलें, लेकिन जब विभाजन के बाद रक्तरंजित आज़ादी आयी तो इस आजादी को क्या कहा जाये? यह तो न अँधेरा है न उजाला, न खिजाँ है न बहार, न क़फ़स है न मुक्त उड़ान (इस असमंजस और मोहभंग की भी शायद सबसे मर्मस्पर्शी कविता फ़ैज़ ने ही लिखी थी, "ये दाग दाग उजाला ये शब गुज़ीयासहर, वो इन्तजार था जिसका ये वो सहर तो नही," पर फ़ैज़ अकस्मात पराये हो गये थे बार्डर के उस पार)। इस मोहभंग के बाद एक अकेलेपन का, सबसे कट जाने का जो भाव उभरा, वह जहाँ शुद्ध और असली था वहाँ वह गालिब की पुनर्प्रतिष्ठा का कारण बना और जहाँ वह नकली और फ़ैशनेबिल था वहाँ वह पश्चिम के चन्द अकेलेपन के आन्दोलनो की उतरनें पहनने लगा। सरदार जाफरी ने जरूर इन्क़लाबी शायर नेरुदा की तरह रोजमर्रा की जिन्दगी के काव्य-उपकरण लेने शुरू किये और उनका एक स्थान उन्हीं की वजह से बना। लेकिन एक मोड़ पर आकर यह इन्कलाबी जोश भी बेमानी साबित होने लगा—पर उसकी बात बाद में।

राही (इस पीढ़ी के अनेक नये हिन्दी कवियों की भाँति) स्वतन्त्रता के पहले प्रगतिशील लेखक संघ के आन्दोलन से जुड़कर साहित्य में आये। (उस वक्त पहले सप्तक में शमशेर जैसे कवि भी 'वाम वाम वाम दिशा समय साम्यवादी' जैसी पंक्तियों को क्रान्ति काव्य समझते थे और दूसरे सप्तक के भावी कवि धर्मवीर भारती प्रगतिशील लेखक संघ के मन्त्री हुआ करते थे।) इस आन्दोलन से जुड़े कवि से अपेक्षा की जाती थी कि वह क्रान्ति का कवि होने के नाते बुलन्द आवाज़ में जनता को सम्बोधित करे और अगर वह जौनपुर में भी काव्य-पाठ करे तो उसकी आवाज़ सीधे तेलंगाना के किसान क्रान्तिकारियों तक पहुँच जाय।

सन् '५५ तक यह सब शान्त हो गया। दंगे दब गये। वामपक्षी आन्दोलन निष्फल हुए और बहुत ऊँचे स्वरों में चिग्घाड़ने वाले कवि अचकचाकर चुप हो गये। जैसे किसी कमरे में बहुत-से लोग खूब ज़ोर से वक्तव्यबाज़ी कर रहे हों और अकस्मात अचकचाकर चुप हो जायें। तब जो सन्नाटा कमरे में छा जाता है, वह अजीब भयावना-सा सन्नाटा होता है। और उसके बाद जो व्यक्ति पहली बार घबराकर वह सन्नाटा तोड़ता है, वह बहुत आहिस्ते से दबे स्वर में आस-पास वालों से बोलता है।

उस दहशत भरे सन्नाटे में जिन लोगों ने धीमे स्वर में आहिस्ते से बोलना शुरू किया, उनमे से एक थे राही मासूम रज़ा। यही वह समय था जब जोश और जाफरी जैसे बुलन्द आवाज़ मे बोलनेवाले शायर असंगत लगने लगे और धीमे से एक बारीक-सी गहरी बात कह जानेवाले फिराक की शायरी का महत्व समझा जाने लगा।

राही को यह धीमे बोलना सीखना पड़ा। क्योंकि कविता अब तकरीर से बातचीत बन गयी थी। पहले उन पर मीर अनीस का डिक्शन सवार था (उसी पर उन्होंने शोध की थी), पर बाद में उन्होंने अपने लिए नया डिक्शन खोजा। काव्य के नये उपकरण खोजे। और उसमें एक नये संकट के समक्ष उन्होंने अपने को पाया।

पर उस संकट की बात बाद में। पहले आप यह देख लें कि बिलकुल इन्हीं समानान्तर स्थितियों में हिन्दी में क्या हो रहा था। हिन्दी में '५१-'५५ के आस-पास ही यह महसूस किया जाने लगा था कि कविता का जेनुइन स्वर न तो तथा-कथित प्रगतिशील कवि का राजनीतिक उद्घोष वाला स्वर है, न छायावादी कवि का 'मैं महामानव हूँ, विशिष्ट हूँ,' वाला वेदपाठी का स्वर। कविता एक *सामान्य मनुष्य की सहज अनुभूति का आत्मीय स्वर है जिसमें आत्मीयता का*

संयमित सहज भाव-स्पर्श है। अगर मैं भूलता नहीं तो 'आलोचना' के एक बहुचर्चित सम्पादकीय मे विजयदेव नारायण साही ने लिखा था कि जब मोड़ पर से खूब शोर-शराबे वाला नारे लगाता हुआ जुलूस जा रहा हो उस समय जो चाहे जोर से भाषण दे, पर नया कवि तो खडे हुए सामान्य दर्शक के पास जाकर दबे स्वर में उससे एक आत्मीयता का आदान-प्रदान करता है।

कैसा अजीब है कि उसी संकट से राही गुजर रहे थे, लेकिन उस वक्त उपयुक्त सम्प्रेषण सम्बन्ध नही बन पाया था।

खैर, बात हम कर रहे थे कि राही ने अपना डिक्शन बदला, अपने काव्य के नये मोड़ के लिए नये उपकरण जुटाये। राही की एक गहरी स्थापना है कि मजहब और संस्कृति दो अलग चीजें है। दोनों एक-दूसरे को प्रभावित कर सकती है, पर सस्कृति का एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व है और मजहब के दायरे मे उसे बँधना नही चाहिए। इसीलिए उनकी धर्मनिरपेक्षता बुनियादी है, और उन शायरों की बनावटी धर्मनिरपेक्षता से बहुत अलग है जो उर्दू को इस्लामी सस्कृति से आच्छादित रखना चाहते हैं और फिर भी गाहे-बगाहे यश, पद, उपाधि या इनामों के खातिर राजनीतिक स्तर पर धर्मनिरपेक्षता की कसमें खाते हैं। राही इसे बहुत दूसरे ढंग से मानते हैं। उनका कहना है कि भारत मे रहनेवाला हर आदमी, चाहे वह किसी भी धर्म का क्यों न हो, उसकी जडें भारतीय ही हैं। उसकी संस्कृति भारतीय ही हो सकती है। बाहर से लिये गये सास्कृतिक तत्त्व चाहे वह लिपि हों, या उपमाएँ, चाहे वह इस्लाम के नाम पर ली जायें या किसी और नाम पर, वे कविता के सही उपकरण नही बन सकते। क्योंकि उर्दू और हिन्दी वस्तुतः दो अलग जबानें नही है और उर्दू की आत्मा भी सच्चे मानों मे भारतीय ही होनी चाहिए, इसीलिए उनका कहना है कि वे हिन्दू को एक धर्म या मजहब नही मानते—वह तो एक संस्कृति है। उसमें जब वैष्णव हिन्दू हो सकता है, शैव हिन्दू हो सकता है, तान्त्रिक हिन्दू हो सकता है, इन सबको नकारनेवाला आर्य समाजी हिन्दू हो सकता है तो महमदी और ख्रीस्तीय भी क्यों नहीं हो सकता! वह अपने-अपने पैगम्बर को मानता हुआ भी हिन्दू संस्कृति का सच्चा अंग हो सकता है।

और यह वह बहुत गहरा और आज की परिस्थितियों मे बहुत सच्चा साहस-भरा विश्वास है, जिसके बल पर एक ओर राही उर्दू की सारी कट्टर धर्मान्धता को खुलेआम चुनौती देने का खतरा मोल लेते हैं तो दूसरी ओर जब संकीर्ण धर्मान्ध हिन्दू उन्हें मुसलमान कहकर निर्वासित करना चाहते हैं, विच्छिन्न करना चाहते हैं तो वह डरते नही, दबते नहीं, ललकारकर कहते हैं कि तुम

उस गंगाजल का क्या करोगे जो मेरी नसों मे लहू बनकर बह रहा है; जो गंगा के रूप में महादेव की जटाओं से ही निकला है।

यही वह तेवर है जो राही का अपना अलग तेवर है और अगर भारतेन्दु आज होते तो कहते, इस पर "कोटिन हिन्दू वारिये।" दूसरे कुछ उर्दू शायरों की धर्मनिरपेक्षता मूलतः हिन्दू और मुसलमान को अलग मानती है और उनमें इत्तहाद चाहती है। राही किसी हालत में अपने को अलग नहीं मानते। इस देश के, इस संस्कृति के बेटे होने का हक उनसे कोई छीन नही सकता। वे हैं और रहेंगे। तनकर रहेंगे, अपना हक मनवाकर रहेंगे क्योंकि जो दायित्व इस देश और संस्कृति से जुड़ने का है, उसे पूरा करने में वे अपने मन-वचन-कर्म में किसी से पीछे नही रहे हैं।

और यहीं पर राही को एक और लड़ाई लड़नी पड़ी है, उर्दू के क्षेत्र में। इस संकट का सामना हिन्दी के नये कवि को नही करना पड़ा है, लेकिन इस रण-बांकुरे कवि को अपनी जमात में पाकर इसके इस युद्ध का भी ब्यौरा जान लेना जरूरी है। राही ने उर्दू को अस्वाभाविक बनानेवाले इस्लामिक प्रतीको का परित्याग किया। प्रख्यात महापुरुष हुसैन उनके पूर्वज हैं लेकिन कविता में उन्होंने अपने आदर्श नायक का प्रतीक-पुरुष चुना हिमालय की ऊँचाइयों मे अकेले भटकनेवाले योगी शंकर को। उनकी प्रेम-कविताओं की आलम्बन बनी राधा—"शाम भी राधा के ख्वाबो की तरह खामोश है बेज़बा है।" और उनके अकेलेपन में उन्हें याद आता है राम का बनवास, "हम भी है बनबास में लेकिन राम नही। हर राही आये। अब हमको समझाकर कोई घर ले जाये।" और वह अपना देश और अपने संस्कृति का अपना बेटा होने का यह अहसास उनमें कितना तीखा है, इसके लिए उनकी वसीयत कविता पढ़िए :

मुझे ले जाकर गाजीपुर में गंगा की गोदी में सुला देना
वो मेरी माँ है मेरे बदन का ज़हर पी लेगी
मगर शायद वतन से दूर मौत आये
तो मेरी यह वसीयत है
अगर उस शहर में छोटी सी इक नद्दी भी बहती हो
तो मुझको उसकी गोदी में सुलाकर उससे यह कह दो
कि यह गंगा का बेटा आज से तेरे हवाले है
वो नद्दी भी मेरी माँ, मेरी गंगा की तरह मेरे बदन का जहर पी लेगी।

अपने इस संग्रह के साथ राही हिन्दी कविता की धारा मे शामिल हो रहे है। अनुवाद या लिप्यन्तरण के रूप में पेश नही कर रहे है अपनी रचनाओं

कवि की ओर से

कविता नयी या पुरानी नही होती। नयी या पुरानी होती है कवि की चेतना। व्यक्ति और समाज तथा समाज और प्रकृति के सम्बन्धों की चेतना। इस चेतना के लिए यह ज़रूरी नही कि ज़िन्दगी को उसके हर रूप में जीकर देखा जाये। क्योंकि यह तो हुआ अनुभव। अनुभव का एक अपना महत्त्व है, पर अनुभव चेतना का बदल नहीं है क्योंकि दूध का जला हमेशा छाछ को फूंक-फूंक कर पीना नहीं चाहता। कभी-कभी फिर से मुंह जलाने को जी चाहने लगता है। यही अपने मुंह को बार-बार जलानेवाला कवि है। मुंह गया जहन्नम में, पर ज़िन्दगी को गर्म-गर्म पीने की बात ही और है।

ज़िन्दगी को गर्म-गर्म पी लेने की धुन में मैंने बार-बार अपना मुंह जलाया है।—शायद अपनी चेतना की धार तेज़ करने के लिए।

मेरी चेतना का शीर्षक यह है कि काव्य की सोत विरह से फूटती है। विरह वर्तमान है। विरह भविष्य है।

> प्यास जीने की अलामत है, बुझा लें कैसे
> हमने यह ख्वाब न देखे हैं, न दिखलाये हैं
> हाँ उन्हीं लोगों से दुनिया में शिकायत है हमें
> हाँ वही लोग जो अक्सर हमें याद आये है

अतीत, वर्तमान और भविष्य। तीनों ही विरह की ताल पर नाच रहे हैं। अतीत, जो हमसे बिछड़ गया। भविष्य, जिसे हम ढूंढ़ रहे हैं।—शायद यही कारण है कि मेरी शायरी 'हिज्र' और 'प्यास' और 'तनहाई' की शायरी है। और शायद यही कारण है कि मेरी 'इमेजेज़' उर्दू के दूसरे प्रगतिशील कवियों की 'इमेजेज़' से अलग हैं।

मेरी शायरी की बुनियादी लय उदासी की है। यह उदासी हमारे युग की सबसे बड़ी और जीवित वास्तविकता है। क्योंकि :

सख्त हालात की पत्थर-सी ज़मी पर गिरकर
क़हकहे शीशे के बरतन की तरह टूट गये

क्योंकि :

नित नये हाथों में और नित नई दुकानों पर
रोशनाई के लिए अपने को बेचा किये हम
ताकि सिर्फ़ इसलिए कुछ लिखने से बाकी न रहे
कि क़लम ख़ुश्क थे और लिखने से मजबूर थे हम
(यह नज्म इस संग्रह में नही है।)

क्योंकि :

आर्ज़ूयें हैं कि सौंलाई चली जाती है
दूर तक अब किसी दीवार का साया भी नहीं

क्योंकि :

ज़ख्मों की इस पगडण्डी पर दूर तलक कदमों के निशाँ हैं
कुछ धुंधले हैं
कुछ गहरे हैं
कुछ सूखे हैं
कुछ गीले है, जिनसे अभी तक खूँ रिसता है
जंजीरों के कटे हुए जंगल में शायर
अपने तलवों के ज़ख्मों से,
अपनी भीगी हुई पलकों से,
अपने टूटे हुए ख्वाबों से,
अपने भूले हुए शेरों से,
अपने लहू भरे हाथो से पूछ रहा है :
आख़िर मैंने क्या खोया है
आख़िर मैंने क्या पाया है
(यह नज्म इस संग्रह में नहीं है।)

क्योंकि :

लेकिन मैं ख्वाब नही हूँ
ख्वाब तो वह है जिसको कोई देख रहा हो
मैं एक वेद हूँ, एक गीता हूँ
एक इंजील हूँ, एक कुर'आँ हूँ
राहगुज़र पर पड़ा हुआ हूँ

किसे भला इतनी फ़ुरसत है
मुझे उठाकर जो यह देखे
मुझमें आखिर क्या लिक्खा है
(यह नज्म इस संग्रह मे नहीं है ।)

क्योंकि :

सभी से हमने सुनी एक दास्ताने-सफर
गुरूब होते हुए जितने आफ़्ताब मिले
धूप-सी धूप है इस सहरा मे
घर की यादें नज़र आती हैं निढाल

और :

साये ज़ंजीर हैं
साये शमशीर हैं
इन सितारों के तरकश में जाने अभी किस क़दर तीर है
क्या जानिये जिन्दानों पे क्या गुजरी थी
डर जाते हैं दरवाज़े की ज़ंजीर से लोग

यह हालत बड़ी जानलेवा है। और यह मंजिल है उदासी की। कभी हिम्मत टूटने लगती है। मैंने ख्वाब में नही सोचा था कि मेरा लड़कपन जिस भविष्य के लिए संघर्ष कर रहा है, वह वर्तमान बनकर ऐसा निकलेगा। मैं इस वर्तमान को स्वीकार नहीं करता। मेरा बस चले तो मैं अपने संघर्ष को वापस ले लूं।

कन्धे टूट रहे हैं सहरा की यह वहशत भारी है
घर जायें तो अपनी नजर में और सुबुक हो जायेंगे
कहाँ पे छोड़ दिया है तेरी वफा ने हमें
जहाँ से दूर है सहरा, जहाँ से दूर है घर

लेकिन मैं अपने-आपको जानता हूँ। मैं घर वापस नहीं जाऊँगा।

इन नज्मों को उदासी का दिया जलाकर पढ़िए।

हम भी जुगनू की तरह सहरा में
शाम होती है तो जल जाते हैं !

मैं इस संग्रह के साथ आपको कोई शब्दकोश नही दे रहा हूँ। क्यों दूं ?

—राही मासूम रजा

१० देवदूत, बैंड स्टैंड, बांद्रा, बम्बई-५०

अनुक्रम

तनहाई

आज अपने कमरे में किस क़दर अकेला हूँ
शाम का धुंधलका है, सोचता हूँ गिन डालूं

दोस्तों के नाख़ून से
कितने ज़ख्म खाये हैं
उनकी सिम्त से दिल पर
कितने तीर आये हैं

चौंक-चौंक उठता हूँ
खाँसियों की आहट से
काश कुछ हवा चलती
खिड़कियों के पट हिलते

तक रहा है आईना
शीशियों की सफ़ चुप है
तू हि बोल तनहाई
वक़्त हर तरफ़ चुप है

खिड़कियों की आँखों से आस्माँ को तकता हूँ
आज अपने कमरे में किस क़दर अकेला हूँ

घर के सामने अब भी
एक रास्ता होगा
कोई आ रहा होगा
कोई जा रहा होगा

मुंह से खून आता है
कितनी दूर मंज़िल है
दिक़, कि सिरफिरे नाक़िद
कौन मेरा क़ातिल है

लफ़्ज़ों की दुकानों पर
जज्ब-ये-सिदाक़त क्या
खूने-दिल दिया मैंने
खूने-दिल की क़ीमत क्या

आज अपने कमरे में किस क़दर अकेला हूँ
सिर्फ़ दिल धड़कता है, हाँ मैं फिर भि जिन्दा हूँ
क्योंकि ज़िन्दगी मेरी, ज़ेहद की अलामत है
इन्क़िलाबे-फ़र्दा की एक बड़ी अमानत है।

गाजीपुर १९५५

ज़ख्मों की आवाज़

ऐ मेरे शहर, गुलाबों के वतन, मेरे चमन
लौट आया हूँ मैं फिर मौत के वीरानों से
फिर कोई शेर, कोई नज़्म पुकारे मुझको
फिर मैं अफ़्साने बनाऊँ तेरे अफ़्सानों से

अपनी तहरीक के यारों से अलग, तुझसे भी दूर
एक शब से भी मेरे ख्वाब सँभाले न गये
आँख खुलती ही रही रात के सन्नाटे में
शिकवहाये-दिले-बेताब सँभाले न गये

कमरे की क़ब्र में कम्बल का कफ़न ओढ़े हुए
खुले दरवाजों से बाहर की तरफ़ तकता रहा
मेरी आवाज भी जैसे मेरी आवाज़ न थी
भरे बाजार में तनहा भी था, हैरान भी था

डाक्टर हँसते थे, मैं हँसता था, सब हँसते थे
फिर भी हँसने को तरसता रहा जब तक भी रहा
क्या इसी वास्ते हम लोग जवाँ होते हैं
यही एक अब्र बरसता रहा, जब तक भी रहा

कहीं एक चन्द्र, कहीं एक बसन्ती, कहीं मैं
डाक्टर बिगड़े हुए है, कही नर्स है ख़फ़ा
एक दुनिया थी एकट्ठा, कोई दुश्मन, कोई दोस्त
कहीं एहसासे-रिकाबत, कहीं पैग़ामे-वफ़ा

ख्वाब भी सबके अलग, ख्वाब की ताबीर अलग
प्यार की बात अलग, इश्क़ की तफ़सीर अलग
जख़्मे-दामाँ भी अलग, नाखुने-तदबीर अलग
दिल अलग, दिल की तरफ़ आते हुए तीर अलग

सब परेशाँ कि पड़ोसी को बतायें कैसे
किसी हमदर्द, किसी दोस्त ने क्या लिक्खा है
जब से बढ़ती हुई खाँसी की खबर पहुँची है
तब से घरवालों को किस बात का अन्देशा है

डाकिये की है ये आहट, कि धड़कता है ये दिल
डाक्टर आये तो मरने का खयाल आता है
कितने दिन, कितने महीने अभी गुजरेंगे अभी
जेहन में सबके यही एक ख़याल आता है

अपने अहबाब को मशग़ूल समझता था, मगर
उनका हलका-सा तग़ाफुल भी गेराँ होता था
मेरे अहबाब मुझे भूल गये हैं शायद
पहले इस तर्ह का एहसास कहाँ होता था

अपने किरदार के टुकड़ों को इकट्ठा करके
लौट आया कि वहाँ रहके मिला क्या मुझको
जख़्मों के बारे में कुछ पूछ लो दीवाने से
ऐ मेरे शहर की वीरान गुजरगाहो, उठो

मेरी यादों के पियाले में भरो फिर फिर कोई मय
ऐ मेरे ख्वाबों के बेनाम खुदाओ, आओ
मेरे सीने में कई जख़्म अभी जिन्दा हैं
आओ, ममता भरी गंगा की हवाओं, आओ।

इलाहाबाद १९५५

ग़ज़ल

इस अँधेरे के सुनसान जंगल में हम डगमगाते रहे, मुसकुराते रहे
लौ की मानिन्द हम लड़खड़ाते रहे, पर कदम अपने आगे बढ़ाते रहे

अजनबी शहर में अजनबी रास्ते, मेरी तनहाई पर मुसकुराते रहे
मैं बहुत देर तक यूँहि चलता रहा, तुम बहुत देर तक याद आते रहे

कल कुछ ऐसा हुआ, मैं बहुत थक गया, इसलिए सुनके भी
अनसुनी कर गया
कितनी यादों के भटके हुए कारवाँ, दिल के जख़्मों के दर
खटखटाते रहे

जहर मिलता रहा, जहर पीते रहे, रोज मरते रहे, रोज जीते रहे
जिन्दगी भी हमें आजमाती रही, और हम भी उसे आजमाते रहे

सख़्त हालात के तेज़ तूफ़ान में घिर गया था हमारा जुनूने-वफा
वो चिराग़े-तमन्ना बुझाता रहा, हम चिरागे-तमन्ना जलाते रहे

जख़्म जब भी कोई मेरे दिल पर लगा, जिन्दगी की तरफ एक
दरीचा खुला
हम भी गोया किसी साज के तार हैं, चोट खाते रहे, गुनगुनाते रहे

दिल्ली १९५८

शेर और शायर

शेर एक तितली है
जेहन के गुलिस्ताँ की रंग-रंग दुनिया में
पंखड़ी से पर लेकर
नाचता ही रहता है

शायर एक बच्चा है
जेहन के गुलिस्ताँ की रंग-रंग दुनिया में
इस हसीं परों वाली, बेकरार तितली के पीछे-पीछे चलता है
गिरता है, सँभलता है
आस्तीन फटती है
दामनो-गरीबाँ के तार झनझनाते हैं
टूट-टूट जाते हैं

धीरे-धीरे लफ़्ज़ों की उँगलियाँ सँभलती हैं
और वो हसीं तितली
उन पे बैठ जाती है
अपने पर हिलाती है
रंग छोड़ जाती है

अलीगढ़ १९५८

रूपरेखा

कौन है ये,
जो बरगद के मीठे साये में बैठ के माथा पोंछ रही है ?

गंगा की तनज़ेब का कुरता
और इस पानी से कुरते में गोमती और सर्जू की कलियाँ
दामन पर,
और चाके-गरीबाँ पर शहरों की बेल टँकी है
देहातों के फूल कढ़े हैं

जमुना के चंचल पानी का नर्म डुपट्टा
लहरों की चुटकी जिसको चुनती रहती है
मेढों के धागे में जिसके लम्बे काले बाल गुँधे हैं

वन्सी की मीठी तानों की चादर ओढ़े
'रसिया' और 'बिदेसिया' के आवेजे पहने
पैरों में 'टोने' के लछ्छे
सरसों के फूलों का टीका
गेहूँ की वालों का छपका
हाथों में 'बाबुल' की चूड़ी
माथे पर मथुरा की बिन्दी
होटों पर काशी की सुर्ख़ी
आँखों में कजरी का काजल

यह बावन बच्चों की माँ है
फिर भी जवाँ है

इलाहाबाद १६६०

ज़िन्दगी

इन्द्रलोक में अमृत पीनेवालों की एक भीड़ खड़ी थी
मेरे हाथ में लेकिन ज़हर का प्याला आया

उस दिन से मैं सोच रहा हूँ
कूजागरों के साथ-साथ क्या कूजागरी भी मर जाती है ?
शीशागरी भी मर जाती है ?
उठते सूरज,
बिखरे तारों,
हँसती कलियों,
नाचती ख़ुशबू,
रेशमी गेसू,
प्यासे आँसू की दुनिया में शायर की दरयूज़ागरी भी मर
जाती है ?

मेरा जिस्म तो मर जायेगा
लेकिन सब्जा शवनम के पैमाने लेकर,
आब्ला-पा लोगों की राहों में बैठेगा
लेकिन चाँद हर एक घर में लोरी गायेगा
लेकिन सूरज हर-हर दरवाजे पर जाकर दस्तक देगा
बादे-सहर ख़ुशबू को कन्धों पर विठलाकर दुनिया दिखलाने
निकलेगी

फिर मै कैसे मर सकता हूँ ?

श्रीनगर १६६०

बादल

बादल क्या हैं

पानी के कुछ प्यासे क़तरे
घर से निकले
बाल उलझे
तलवों में छाले
बस्ती-बस्ती
सहरा-सहरा
होंटों के रेगिस्तानों को ढूंढ रहे हैं

अलीगढ़ १९६१

करफ़्यू आर्डर

चन्द नारों की थकी-माँदी,
शिकस्ता,
बद दिल,
अपनी गूँज की ज़ंजीरों में जकड़ी हुई,
सहमी हुई बेचारी सदाओं के सिवा
लड़खड़ाती हुई बेहोश हवाओं के सिवा
खौफ़ो-वहशत की बलाओं के सिवा
कोई नहीं—दूर तक कोई नहीं

राह सुन्सान है ता हद्दे-नज़र
जेहन वीरान है ता हद्दे-नज़र
न लड़कपन
न बुढ़ापा
न शबाब
न खनकते हुए फ़िकरे, न दमकते हुए चेहरों के गुलाब
सारा बाज़ार है खाली दिले-दुश्मन की तरह
—अपनी ही आवाज से जी डरता है

नकहते-गुल के दरीचे भी कई दिन से हैं बन्द
वह सबा ही नहीं आती जो दिया करती थी दस्तक इन पर
गिर गयी सुब्ह अँधेरे की किसी खाई में
चाँद भी बैठ गया जाके किसी गोश-ये-तनहाई में
आज आवाज़ों की इस बस्ती में
एक सहमी हुई खामोशी के जादू के सिवा,

कोई नहीं

मुझको राहों पर सिपाही नहीं अच्छे लगते
कोई आ जाय यहाँ
कोई आ जाय यहाँ शेखो-ब्रहमन के सिवा

अलीगढ़ १६६१

प्यास का सहरा

दूर तक धूप है, तनहाई है
दूर तक साय-ए-दीवा नही
—दूर तक प्यार नहीं, प्यार के आसार नही

दूर तक धूप की जादूनगरी
शक्ल बनती है, बिगड़ जाती है
गर्द उठती है, उठे जैसे धुवाँ
—कोई घुँघरू, कोई पाज़ेब नही
सोहनी डूब गयी हिज्र के दरिया में कही
आँख खुलती ही नहीं, बन्द हुई जाती है
साँस सीनों के निहाँख़ानों से आती है तो घबराके चली जाती है

साये तो मेरे रक़ीबों से भी छोटे निकले
धँस गये धूप की दलदल मे कहीं
बू पसीने की है यादों के गुलिस्तानों में

कोई बतलाय कि इस प्यास के सहरा के उधर
फिर कोई प्यास का सहरा तो नहीं

श्रीनगर १९६१

रक़ीब की मौत

मैंने आँखों से कहा :

एक दरिया न सही
एक क़तरा ही सही
एक किरदार था वह भी मेरे अफ़साने का
हौसला उससे बढ़ा करता था दीवाने का
उसके दम से बड़ी रौनक थी
वह वफादार न था
किसी यूसुफ़ का खरीदार न था
हम-सा रुसवा सरे-बाजार न था
फिर भी उस शख्स की वह बुल'हवसी
जैसे तहरीके-वफ़ा करती थी
इश्क़ के हक में दुआ करती थी

अलीगढ़ १९६१

नये साल की चंचल तितली

दूर तक कुछ भी नही
कुछ भी नहीं
प्यास के सहरा के सिवा
दूर तक कुछ भी नहीं
न कोइ रंग,
न खुशबू,
न उमीद
सिर्फ़ परछाइयाँ,
हैरान, परेशाँ साये
राह भूले हुए छालों के बयाबानों में
कोई आवाज़ नही दिल के सनमखानों में

भीड़ है
कूच-ओ-बाजार में हंगामा है
फिर भी हर शख्स यहाँ तनहा है
अपने ही शहर के बाज़ारों में,
एक मुसाफ़िर की तरह आज बहुत तनहा है
और खुद अपनी ही साँसों को गराँबार सलासिल के तले
सिसकियाँ रोके हुए
अश्कों को बहलाये हुए
कान आहट पे लगाये हुए,
उकसाये हुए शम-ये-तमन्ना की झपकती हुई लो
मुन्तज़िर है कि नये साल की चंचल तितली

अपने खुशरंग परों में शायद
कोइ पैगामे-गुले-तर लाये
और वह गीत जो हैं गोशानशीं हर दिल में
निकल आयें खुले बाजारों में
पाँव नंगे ही सही
बाल बिखरे ही सही
शेर पकड़े हुए एक गोश-ये-दामाने-बहार
नकहतो-रंग की इन उजड़ी हुई गलियों को आबाद करें
इश्क़वालों पे तो बेरंगी की सदियाँ गुजरीं
न बहार आयी,
न दामन हुए चाक
न गरीबाँ ने सुना क़िस्सए-दस्ते-बेबाक

ऐ नये साल की चंचल तितली
अपने खुशरंग परों में इस बार
कोई पैग़ामे-गुले-तर लाना

हैदराबाद १९६१

आँखें

तेरी आँखें हैं ख़यालों के दहकते हुए लब
कोइ आहट, कोइ आवाज़ नहीं
फिर भी एक लहजे का जादू भी है, अन्दाज़ भी है
कितने पैग़ाम चले आते हैं

अलीगढ़ १९६२

चोर

सो गयी रात, वहुत देर हुई
थक के लेटी थी किसी राहगुजर पर,
किसी आँगन,
किसी कमरे,
——किसी वीराने में
किसी मस्जिद, किसी मैख़ाने में
किसी पत्थर के सुतूँ से टिककर
किसी दीवार के सीने से लगाये हुए सर
सो गयी रात वहुत देर हुई
चाँद भी डूब गया
तारे बेहूदा पड़ोसी की तरह देख रहे हैं कि किसी और पड़ोसी के यहाँ
रोशनी कैसी है,
क्या होता है

आवो
ऐसे में न देखेगा कोई
आवो, और मुझको चुरा ले जाओ

अलीगढ़ १९६२

शाम और श्याम

यह जमीं एक झोंपड़ी है
जिसके दर याद का और इन्तिजारे-दोस्त की मीठी कसक का
मलगुजा-सा एक पर्दा
नाउमीदी की शिकन-अन्दर-शिकन को देखता है

शाम राधा की तरह तनहा खड़ी है
शाम राधा की तरह पर्दे के एक कोने को पकड़े, मुज़महिल, तनहा
खड़ी है
रास्ते को तक रही है

डूबते सूरज का एक तनहा दिया ताक़े-उफ़ुक में जल रहा है
वक़्त इतना थक गया है
गर्द की चौपाल में चुपचाप बैठा अपने तलवे मल रहा है
—दूर
यादों के नगर के उस तरफ़ मधुबन में कोइ
गोपियों के कहक़हों का हार पहने
पनघटों से आनेवाले क़ाफ़लों को छेड़ता है
और हसी चरवाहियाँ कुछ इस तरह बरगद के पीछे छिप रही हैं
चोर जिस जानिब से गुजरे उनको पा ले

जिस्म है या तिशनगी है
रोयाँ-रोयाँ एक जबाँ है
लम्स की शबनम कहाँ है
शाम भी राधा के ख्वाबों की तरह खामोश है और बेजबाँ है

झोंपड़ी के दर पे यह मैला-सा पर्दा,
एक बूढ़ा क़िस्सागो है
इसके इस बूढ़े बदन पर झुर्रियां ही झुर्रियां हैं
झुर्रियाँ कुछ और बढ़ जायेंगी—शायद
शाम थककर गोश-ये-दामाने-दर को छोड़ देगी
डूबते सूरज का यह बेजाँ दिया भी एक लम्बी साँस लेकर सो रहेगा

अलीगढ़ १९६२

तूफ़ान

घटा ज़मी पर झुकी हुई है
नदी का पानी हवा के नेज़ों की चोट खाकर तड़प रहा है
किनारे सहमे हुए खड़े हैं
हवा के नाखून बड़ दरख़्तों के पैरहन में धँसे हुए हैं
तमाम शाख़ें कराहती हैं
कगार के माथे से गीली मिट्टी पसीने की तहं बह रही है
नदी के सीने पे एक इफ़रीत झाग के सद हज़ार घुंघरू पहनके
बेताल नाचता है
उमीद साहिल की तहं कट-कटके गिर रही है

अलीगढ़ १९६२

प्यास और पानी

मैंने जब भी जन्म लिया है
अपने को तनहा पाया है
अपने को प्यासा पाया है
पानी
पानी
इस नन्हे से लफ़्ज में कितनी मौसीक़ी है
पानी, पानी
मैंने जब भी जन्म लिया है
इन लफ़्ज़ों पर गौर किया है

पानी क्या है ?
प्यास इब्तिदा,
प्यास अन्त है
बीच में रेत का एक सागर है
लमहे शबनम के क़तरे हैं
होंटों तक आने से पहले उड़ जाते हैं
मैंने जब भी जन्म लिया है
लमहों के इन क़तरों के पीछे भागा हूँ
लेकिन मैं अब तक प्यासा हूँ

प्यास इब्तिदा,
प्यास अन्त है
बीच में रेत का एक सागर है
इस सागर का नाम तमन्ना

प्यास के इस तपते सहरा में सेरावी को ढूँढ़नेवाले खो जाते हैं
सब दीवाने हो जाते है
धूप के इस काले सहरा में सब तनहा हैं
हद्दे-नज़र तक अपनी परछाई के एलावा कोइ नहीं है
कोइ नही है
एक अंगारा है कि ज़मी हैं
साये का इक हलका-सा धब्बा भी नही है
जिसकी गोद में बैठके कोई घास की उँगली से शवनम के क़तरे चाटे
माथा पोंछे,
दामन झाड़े,
और ये सोचे
लमहों के सहरा में अब तक कितना पसीना और आँसू के कितने
क़तरे खर्च हुए हैं

आँसू क्या है ?
गमकी आगमें पिघली हुई शख्सीयत है जो कतरा-क़तरा वह जाती है
इस जीने के हाथों हम क्या-क्या सहते हैं
अपनी प्यास बुझाने को हम खुद आँसू बनकर वहते हैं
प्यास इवतिदा, प्यास अन्त है
बीच में रेत का एक सागर है
इस सागर के नाम हजारों—एक छोटा-सा नाम जमाना
डूबनेवालों में एक दुनिया
कोइ हीर है
कोई राँझा
इन नामों में क्या रक्खा है
सब प्यासे हैं
एक का क़िस्सा सबका क़िस्सा
सबका किस्सा दर्दे-जुदाई
जिनको हम आँखें कहते हैं
परछाईं के दो जंगल हैं
इनमें जो कुछ है वह क्या है
बस साया है
दुनिया तो इनके वाहर है

दुनिया को किसने देखा है
इन आँखों की बात निराली
दुनिया का यह हाल बतायें
खुद अपने को देख न पायें
मैंने जब भी जन्म लिया है
इन बातों पर ग़ौर किया है
आँखें क्या है ?
जलवा क्या है ?
इस दुनिया का क़िस्सा क्या है ?
क्या यह जंगल,
ऊँचे-नीचे यह टीले,
यह शहर,
ये घर,
यह जिन्दाँ ?
दुनिया क्या है ?
यह दरिया गर दुनिया होता
मैं क्यों इतना प्यासा होता
यह जंगल गर दुनिया होता
मेरी राह में इन पेड़ों का साया होता
मैं क्यों इतना तनहा होता
तब आखिर यह दुनिया क्या है ?
तनहा लोगों की एक महफ़िल
फूल अकेले
खुशबू तनहा
आँख अकेली
आँसू तनहा
लफ़्ज़ अकेले
जादू तनहा
कृष्ण अकेला, मधुबन तनहा, मक्खन तनहा
नींद अकेली
आँगन तनहा
कोइ किसी का दर्द न जाने

कोइ किसी की वात न माने

मैंने जब भी जन्म लिया है
इन बातों पर ग़ौर किया है
आज भी मैं यह सोच रहा हूँ
फूल है क्या और खुशबू क्या है
आँखें क्या हैं, आँसू क्या हैं
आज भी मैं यह सोच रहा हूँ
प्यास है क्या और पानी क्या है
आखिर मेरी कहानी क्या है

सोचते-सोचते थक जाऊँगा, सो जाऊँगा
सुब्ह को जब फिर आँख खुलेगी
तनहा हूँगा
प्यासा हूँगा
फिर सोचूंगा
तनहाई क्या चीज़ है आखिर
प्यास है क्या और पानी क्या है

प्यास इबतिदा
प्यास अन्त है

अलीगढ़ १९६२

वसीयत

—मैं इस दुनिया से क्या माँगूँ
मेरी नज़्मों की क़ीमत जिन्दगी में इसने कब दी थी, जो अब देगी

—मैं इस दुनिया से क्या माँगूँ
सुना है मरनेवाले शायरों को पूजती है यह
ये उनकी क़ब्र पर जाती है और जाकर कभी तकरीर करती है,
कभी आँसू बहाती है
रिसालों के एडीटर मरनेवाले शायरों के नाम पर अहले-क़लम से
मुफ्त में मज्मून लिखवा कर, रिसाले और किताबें बेचते हैं
और इस दुनिया मे अपना नाम करते हैं
किसी और अहले-फन की मौत तक आराम करते हैं
एडीटर ग़ालेबन मेरे भी कुछ 'नम्बर' निकालेंगे
ये दुनिया मेरे 'नम्बर' भी खरीदेगी
उन्हे अलमारियों में प्यार से रक्खेगी
—फिर दो-चार दिन के बाद उनको भूल जायेगी
मेरे बारे में कुछ किस्से गढेगी यह
कि मैं ऐसा भी था—वैसा भी था, शायद
तो फिर पहली वसीयत मैं ये करता हूँ कि मेरे नाम पर 'नम्बर'
न निकलें

और यह दुनिया
ड्राइंगरूमों, क़हवाखानों और बेजान मयखानों की यह दुनिया
मुझे बिलकुल भुला ही दे तो अच्छा है
कि मेरी दास्तां में जाने कितनी बार इसका नाम आयेगा

मेरा फ़न मर गया, यारो
मैं नीला पड़ गया, यारो
मुझे ले जाके ग़ाज़ीपुर में गंगा की गोदी में सुला देना
वो मेरी माँ है
वह मेरे वदन का ज़हर पी लेगी

मगर शायद वतन से दूर मौत आये
तो मेरी यह वसीयत है
अगर उस शहर में छोटी-सी एक नद्दी भी बहती हो
तो मुझको उसकी गोदी में सुलाकर उससे यह कह दो कि यह
गंगा का बेटा आज से तेरे हवाले है

वो नद्दी भी मेरी माँ, मेरी गंगा की तरह मेरे वदन का जहर
पी लेगी

कलकत्ता १९६२

चाँद की बुढ़िया

माँ से एक बच्चे ने पूछा :

चाँद में यह धब्बा कैसा है ?

माँ यह बोली :

चन्दा बेटे, जिसको तुम धब्बा कहते हो वह तो एक पागल बुढिया है

बच्चे ने मासूम आँखों से पल-भर अपनी माँ को देखा
तब यह पूछा :
माँ, जब मैं चन्दा बेटा हूँ
तब तो मुझमें भी एक पागल बुढ़िया होगी

माँ ने उसको भीच लिया,
उसके लब चूमे,
गरदन चूमी
माथा चूमा
और ये बोली : 'हाँ, तुझमें भी एक बुढ़िया है ।'

अलीगढ़ १९६३

धुंध

धुंध, गहरी धुंध है,
तालाब का पानी अभी तक सो रहा है
ऊँचे नीचे, सर्द टीलों पर ये बूढ़े पेड़ अभी जागे नहीं हैं

यह जड़ें पेड़ों की बूढ़ी हड्डियाँ हैं
पत्तियाँ यादें हैं,
जिनमें कुछ हरी हैं ज़ख्मे-ताजा की तरह और कुछ निशाने-ज़ख्म
की मानिन्द पीली पड़ रही हैं
ऊँचे नीचे सर्दो-नम टीलों पे बूढ़े पेड़ यादों के लिहाफ़ों में दुबककर
सो रहे हैं

दूर, उफ़ुक के पास, बँसवाड़ी के पीछे
धुंध के कागज पर आबादी का एक हलका-सा खाका,
कुछ लकीरें—
एक पूरा गाँव अब तक सो रहा है

हर तरफ़ सरसों की पीली चूनरी फैली हुई है
क़तरा-क़तरा रंग जिससे रिस रहा है
वक़्त अपनी साँस रोके
ज़िन्दगी की मेंढ पर बैठा हुआ है

सारी दुनिया सो रही है
सिर्फ़ मिट्टी जागती है
और मटर के शोख़ फूलों से कोई दिलचस्प क़िस्सा कह रही है

और मटर के फूल खुश हैं
हँस रहे हैं
और जौ की बालियाँ अपने बदन लचका रही हैं
और चने की नन्हीं-नन्हीं पत्तियाँ हैरान हैं
और वक़्त से यह पूछती हैं :
क्या ये गहरी धुंध सूरज से बड़ी है ?

अलीगढ़ १९६३

मन्थन

देवताओं ने समुन्दर को मथा
जहर भी अमृत भी मिला
जहर पीने के लिए एक ही हाथ बढ़ा
देवताओं ने समुन्दर को मथा
—एक क़तरे को मगर कौन मथे
देवता मुझसे बड़े हों तो मथें मेरी तरह एक क़तरे को ज़रा
ज़हर पी लेने को तैयार हूँ मैं

इन्द्र दरबार में है कोई, जो आगे बढ़कर
बूँद-मन्थन का उठा ले बीड़ा
किसने अपने को मथा
मेरे सिवा—मेरे ही जैसे दिवानों के सिवा

इन्द्र दरबार में कोई नहीं
सब उठ गये—सन्नाटा है
अब यहाँ कोइ नहीं, कोइ नहीं, मेरे सिवा
मैं बहुत दूर से आया था कि कोई होगा
देवताओं के नगर से तो वही मेरी ज़मीं अच्छी थी

अलीगढ़ १९६३

कॉफ़ी हाउस

एक तरह की मेज-कुर्सियाँ
भाँत-भाँत के चेहरे
चेहरे दोहरे, तेहरे
गंजी रूहें 'विग' पहने,
शीशे की आँखों पर चश्मों के खोल चढ़ाये
पत्थर की चिकनी और बेहिस नाकों के परचम लहराती
सबको हिक़ारत से तकती हैं

अलीगढ १९६३

साहिल और समुन्दर

समुन्दर बार-बार आता है
टकराता है साहिल से
मगर साहिल नहीं हटता
समुन्दर लौट जाता है

बम्बई १९६३

दीवाली

वह आयी
चुपके से बोली
आँखों की अन्धी मेहरावों में आँसू के दीप जला लो
मैं आयी हूँ

अलीगढ़ १९६३

गूंगा पनघट

परदेसी,
लो कहना मानो
गुस्सा थूको
पनघट की सीढ़ी पर बैठे बेचारे पानी को आखिर पत्थर से क्यों मार
रहे हो ?

मैं भी गूंगी हूँ
यह पनघट भी गूंगा है
मैं बेचारी कैसे बताऊँ—
यह बेचारा कैसे बताये
मेरा बाप का घर कैसा है और किधर है

अलीगढ़ १९६४

कच्ची मूर्ति

परदेसी,
मैं कच्ची मिट्टी की मूरत हूँ
मुझको तुम मत हाथ लगाओ
टूट न जाऊँ

देखो,
मेरी परछाईं तक पनघट की सीढ़ी से लिपटी काँप रही है

अलीगढ़ १९६४

एक पल, एक सदी

पोर-पोर में मेंहदी की मीठी खुशबू के छल्ले पहने
बाल सँवारे
चंचल आँखों के पैरों में काजल की ज़ंजीरें डाले
जब वह दरवाज़े तक आयी
दरवाज़े पर कोइ नही था

धूल किसी के नक़्शे-क़दम से खेल रही थी

अलीगढ़ १९६४

जाहिल

वड़ी-वड़ी हिरनी जैसी दो पागल आँखें
मुझसे कुछ कहते-कहते क्यों रुक जाती हैं

—या शायद मैं ही ये जवाँ अब भूल गया हूँ

अलीगढ़ १९६४

अकेला-दुकेला

अभी-अभी कुछ दिन पहले तक
मैं बिलकुल तनहा रहता था
अब तो मेरी बदनामी भी मेरे ही दो कमरों के छोटे-से घर में उठ
आयी है

अलीगढ़ १९६४

गंगा और महादेव

मेरा नाम मुसलमानों जैसा है,
मुझको कत्ल करो और मेरे घर में आग लगा दो
मेरे उस कमरे को लूटो जिसमें मेरी बयाज़ें जाग रही हैं
और मैं जिसमें तुलसी की रामायण से सरगोशी करके कालिदास के
मेघदूत से यह कहता हूँ :

मेरा भी एक सन्देसा है
मेरा नाम मुसलमानों जैसा है,
मुझको कत्ल करो और मेरे घर में आग लगा दो
लेकिन मेरी रग-रग में गंगा का पानी दौड़ रहा है
मेरे लहू से चुल्लू भरकर महादेव के मुंह पर फेंको
और उस जोगी से यह कह दो :

महादेव
अब इस गंगा को वापस ले लो
यह ज़लील तुर्कों के बदन में गाढ़ा गर्म लहू बन-बनकर दौड़ रही है

अलीगढ़ १९६४

छतनार पेड़

मिसरों की शाखों पर
लफ़्ज़ों की पत्ती है
'सिम्बल' की कलियाँ हैं
ख़्वाबों की फलियाँ हैं
कन्धों पर सूरज है
पैरों में साया है

अलीगढ़ १९६५

मैं और वह दूसरा आदमी

जाओ जाओ,
मुझे नींद आती है,
सोने दो मुझे
दिन गुजर जाता है लफ़्ज़ों का तआकुब करते
और जब रात को थक हार गिर पड़ता हूँ
तुम चले आते हो अखबार लिये—

तुमको अब याद नहीं
कल के अखबार में भी थीं यही सारी खबरें
बल्कि बरसों से यही खबरें धड़ाधड़ हरएक अखबार में छपती हैं,
पढ़ी जाती हैं

कल की खबरें भी लगे हाथ सुना डालो अभी
फिर कहीं जाके मरो तुम भी,
मुझे सोने दो
सुब्ह को फिर मुझे लफ़्ज़ों के तआक़ुब में निकलना होगा

अलीगढ़ १९६५

ए खुदा !

ए ख़ुदा,
ए क़ादिरे-मुतलक़ ख़ुदा,
इतना बता—
जब क़ादिरे मुतलक़ है तू
फिर किसने पहनायी मुझे जख्मों की ये भारी क़बा ?
या तो ये कह
तेरे सिवा भी है कोई
या मान ले,
एक़रार कर—
तू ही मेरा क़ातिल भी है

अलीगढ़ १९६१

भूमिका

कोई तुमसे अगर पूछे कि यह अश'आर किसके हैं, तो मेरा नाम
मत लेना।
तुम्हें क्या इल्म इसका कौन हूँ मैं क्योंकि तुमने तो किताबों को
किसी दूकान तक जाकर ये मजमू'आ खरीदा है।

कभी तुमने तो इतना भी नही सोचा :
वो खूने-दिल दुकानों पर नही मिलता
तुम्हारे वास्ते जिस खूने-दिल से शेर लिखता हूँ

अलीगढ १९६५

तर्का

किराये के मकानों में गुज़ारी ज़िन्दगी उसने
हुई तकसीम जब उसकी विरासत उसके बेटों में तो एक बेहद पुराने बक्स में, (जो बाप-दादा की विरासत था), नहीं मालूम किस तारीख़ के अख़बार के नीचे, मकानों के कई नक़्शे बड़े आराम से सोते नज़र आये।

अलीगढ़ १९६६

लोरी

मासूम रजा

अब थोड़ी देर में सूरज इस खिड़की से अन्दर झांकेगा
अब सो जाओ
खुद सो जाओ
वह होंट जो इन आँखों को थपका करते थे
शायद वह तुमसे रूठ गये

अलीगढ़ १९६५

इन्तज़ार

यह खिड़की जो बाहर की जानिब खुलती है
यह अन्धी थी
लेकिन इस खिड़की में भी अब दो आँखें-सी उग आयी हैं

अलीगढ़ १९६५

एक दृश्य

बांस के झुण्ड में
चाँदनी जब दबे पाँव दाखिल हुई
पत्तियों के लिहाफ़ों में दुबकी हुई सो रही थी हवा, जाग उठी
—दूर अँधेरे के तालाब में डुबकी मारे हुए गाँव ने
सिर निकाला
और एक सांस ली

अलीगढ़ १९६५

रुसवा

वही दरवाज़ा मुझे बन्द नज़र आता है
जिसने भेजा था मुझे
तुहफ़ये-गर्दे-सफ़र लाने को

अब ये सौग़ात किसे दूँ,
किसे बतलाऊँ कि दुनिया क्या है

दिल के बाहर की ये दुनिया है अजीब
प्यार को जुर्म बताती है
वफ़ा करने से कतराती है
नाम के ख़ोल में दुबके हुए लोग
इर्मतिहाँ गाहे-तमन्ना की कड़ी धूप से घबराते हैं
कि तमन्ना की अगर आँच लगी
नाम के ख़ोल पिघल जायेंगे

अलीगढ़ १६६५

तसलसुल

मैंने पूछा : ज़िन्दगी क्या चीज़ है ?
चांद बोला : मेरे आगे आफ़्तावे-मुज़महिल है, मेरे पीछे
आफ़्तावेनव, मुझे फ़ुरसत नहीं,
आगे बढ़ो ।

अलीगढ़ १९६६

जादूगर

यह मेरे हाथ भी आप सभी के हाथों की मानिन्द अज़ल से खाली हैं
—हाँ यह भी ठीक,
अज़ल को किसने देखा है
पर लाखों-लाख रसूलों और मुल्लाओं ने बतलाया है
एक रोजे-अज़ल था
और उस दिन
अल्लाह ने सारी रूहों को तक़दीर का पत्थर मारा था
—उस रोज़े-अज़ल से हाथ हमारे खाली हैं

अब देखिए, आपको मैं अपने दिल का एक ज़ख्म दिखाता हूँ
मामूली ज़ख्म है,
हर दिल पर एक ऐसा ज़ख्म लगा होगा
लेकिन सुनिए
जब मैं आँसू की शबनम से दिल के ज़ख्मों को धोता हूँ
दिल तख़्त-ये-गुल बन जाता है

अलीगढ़ १९६९

गिरावट

कोई बताये
मैं क्या वही हूँ
जो सारी दुनिया के क़ातिलों से बुरा बना था ?

अलीगढ़ १६६७

कुहरे का खेत और धूप की बूंद

कुहर के खेत में
सारी पगडण्डियाँ खो गयीं
क़ाफ़ला रुक गया
क्या पता दिन है, या रात है
हर हथेली की आँखें खुली हैं, मगर
सूझता कुछ नहीं
दूसरा हाथ है, या कोई और है
काफ़ला खैमा-जन हो गया
धूप का क़ाफ़ला खैमा-ज़न हो गया
कुहर खैमों पे है
कुहर खैमों में है
धूप की बूंद जमने लगी
जम गयी
कुहर की यह खड़ी फ़स्ल अब देखिए कितने दिन में कटे
और यह क़ाफ़ला,
धूप का खैमा-जन क़ाफ़ला
कुहर के खेत से
कब चले

अलीगढ़ १९६७

रास्ते की धूल

रात की फ़स्ल जिस दम कटी
रोशनी की सुनहरी, दमकती हुई बालियों से जमीं ढक गयी
आस्माँ छिप गया
सारी पगडण्डियाँ अपने ज़ख़्मे-बदन भूलकर गुनगुनाने लगीं
ख्वाब की गाड़ियाँ
खेत से झोंपड़ों की तरफ़ चल पड़ीं
सारी महरूमियाँ
खेत से गाँव तक
रास्तों पर खड़ी हो गयीं
आँसुओं की सलीबों पे लटकी हुई ख्वाहिशें गीत गाने लगीं
और मैं अपने लफ्ज़ों के मृदंग पर थाप देने लगा
धूल उड़ने लगी
रोशनी की दमकती हुई बालियाँ धूल में खो गयीं

अलीगढ़ १९६७

वह बेदर्द शहर

रूह की तिश्नगी मिट गयी
राह की तीरगी मिट गयी
रोशनी के पियाले में परछाइयाँ घुल गयीं

अजनबी शहर के अजनबी रास्ते
सोचते रह गये
यह कोई और है
और मैं हँस दिया
और मैं अजनबी और बेदर्द उस शहर की बेबसी देखकर हँस दिया
जिसकी झोली में अब कोई क़िस्सा नहीं
जिसके प्याले में सरगोशियों के हलाहल का अब कोई क़तरा नहीं

ज़हर पीकर मेरी ज़िन्दगी बढ़ गयी

बम्बई १९६७

अजनबी ख़्वाब

तेज़ चलने लगी गुरबत में हवा
गर्द पड़ने लगी आईने पर
जागते रहने का हासिल क्या है
आओ,
सो जाओ मेरे सीने पर

ख़्वाब तो दोस्त नहीं हैं कि बिगड़ जायेंगे
ख़्वाब तो दोस्त नहीं हैं कि हमें धूप में देखेंगे तो कतरायेंगे
ख़्वाब तो दोस्त नहीं हैं कि जो बिछड़ेंगे तो याद आयेंगे

जागते रहने का हासिल क्या है
अव्वले-शब उसे देखा था जहाँ
चाँद ठहरा है उसी जीने पर
आओ,
सो जाओ मेरे सीने पर

बम्बई १६६८

नींद का गाँव

आओ,
हम तुम चलें नींद के गाँव में
कुह्र के शह्र में सारी परछाइयाँ सो गयीं
इस पसीने के गहरे समुन्दर के साहिल पे टूटी हुई सारी अँगड़ाइयाँ
सो गयीं

शोर कम हो गया
क़हक़हे सो गये
सिसकियाँ सो गयीं
सारी सरगोशियाँ सो गयीं
रास्ते चलते-चलते घरों में समाते गये
शह्र अकेला खड़ा रह गया
क्यों न हम इस अकेले भटकते हुए शह्र को साथ लेते चलें,
नींद के गाँव में

रात ढलने लगी
आँख जलने लगी
लफ़्ज़ खुद अपनी आवाज़ के बोझ से थक गये
तुम भी सरगोशियों की रिदा ओढ़ लो
कुह्र के शह्र में सारी परछाइयाँ सो गयीं

बम्बई १९६९

ज़र्द चट्टान ?

प्यास की ज़र्द चट्टान पर
मैं भी एक रेत का ढेर हूँ
क्या पता कब तलक हूँ यहाँ
आस्माँ से ज़मीं तक मेरी तिशनगी का धुआँ
क्या पता यह हवा शाम तक खैमा-जन हो कहाँ
धूप उतरी हुई है सरहाने मेरे
दौड़ती हैं मेरे जिस्म पर धूप की उँगलियाँ
मेरी छागल में अब छाँव का एक क़तरा नहीं

प्यास की ज़र्द चट्टान पर
सैंकड़ों नाम हैं

जयसलमेर १९७०

पैग़म्बर

नबी होना कोई मुशकिल नहीं है
न वह ख़ुद देखता है
न वह ख़ुद सोचता है
न वह ख़ुद बोलता है

ख़ुदाया
मुझको आख़िर देखने और सोचने और बोलने की यह सज़ा किस
जुर्म में दी है

न जाने ज़िन्दगी कितनी कटी है
कितनी बाक़ी है
जो बाकी रह गये हों उन दिनों के वास्ते
या रब
नबी मुझको बना दे

जयपुर १६७०

मरसिया

एक चुटकी नींद की मिलती नहीं
अपने ज़ख्मों पर छिड़कने के लिए
हाय, हम किस शहर में मारे गये

घण्टियाँ बजती हैं
जीने पर क़दम की चाप है
फिर कोई बेचहरा होगा
मुंह में होगी जिसके मक्खन की ज़बाँ
सीने में होगा जिसके एक पत्थर का दिल
मुसकुराकर मेरे दिल का एक वरक़ ले जायेगा

बम्बई १९७०

दर्द की नहर

चांद उतरने लगा दर्द की नहर में
कश्तियाँ साँस की तहें चलने लगीं
सारी परछाइयाँ
साहिले-दर्द पर
शम्म की तहें जमने लगीं
साअतें मोम की थीं,
पिघलने लगीं
चांद उतरने लगा दर्द की नहर में
दर्द की नहर में चांद गुम हो गया
सारी परछाइयाँ साहिले-दर्द से हट गयीं

बम्बई १६७०

दीवाली

रात के जगमगाते हुए शहर की भीड़ में
मेरी परछाइयाँ खो गयी हैं कहीं
ग़ैर है आस्माँ
अजनबी है ज़मीं
मैं पुकारूँ किसे
चलके जाऊँ कहाँ
मेरी परछाइयाँ खो गयीं रात के जगमगाते हुए शहर में

बम्बई १९७०

अकेले-दुकेले शेर

कभी रोशनी की तलाश में कई मंजिलों से गुजर गये
कभी रात इतनी डरावनी, कि हम आर्ज़ू से भी डर गये

क्यों मेरी मुहब्बत को पत्थर ये समझते हैं
क्यो इतने परेशाँ है शीशे के मकाँवाले

हम ख़ूने-जिगर लेकर बाज़ार में आये हैं
क्या दाम लगाते है लफ़्ज़ों की दुकाँवाले

जिन्दगी के नाम पर मरना पड़ा
फिर भी यह सौदा बड़ा सस्ता पड़ा

कई उफुक, कई रातें, कई दरीचे हैं
तुम्हारे शहर में सूरज कहाँ-कहाँ निकले

उस कश्ती से किसने पूछा, क्या गुज़री तूफ़ानों में
जिसने न जाने कितने मुसाफ़िर अब तक पार उतारे हैं

सूरज कभी इस दिल के खराबे में भी आकर
एक रोज का मेहमान हो, एक रात ठहर जाय

दिल के आईने से हुशियार रहो
इस पे जम जाती है गर्दे-महो-साल

हदे-निगाह तलक क्या दिखायी देता है
हमें तो प्यास का सहरा दिखायी देता है

नील मणी हर-हर दरवाज़े की जंजीर बजाये
माखन नहीं किसी मटके में, गोकुल मर-मर जाये

हमने जिस ज़र्रे को निचोड़ा, ख़ूं टपका तनहाई का
जिन सहराओं से हम गुज़रे, वह सहरा क्या आयेगे

ये ठीक है कि अँधेरा नहीं है महफिल में
मगर चिराग पे क्या-क्या गुजर गयी होगी

अपने साये की तरफ देखके डर जाता है
इतना तनहा न था इन्सान, न जाने क्या हो

जब देखा वढ़ी और तमन्ना यारो
उसको कभी जी भरके न देखा यारो

सलीवें लेके अपनी खुद गये हैं जानिवे मक़तल
यही तो हम जुनूँ वालों की एक पहचान है यारो

वो कड़ी धूप है, काँटों की जवाँ सूख गयी
हम यहाँ किससे करें साय-ए-दीवार की बात

शेरों की उँगली जलती थी, इसको हाथ लगाते
धीरे-धीरे खाक हुआ है दिल जैसा अँगारा

इश्क़ की राह में कुछ नाम वदल जाते हैं
जो वयावाँ नजर आ जाय उसे दिल कहिए

आती है उसकी याद बड़े एहतमाम से
गर्मी में सुबह को ठण्डी हवा चले

जीना भी एक मुश्किल फ़न है, सबके बस की बात नहीं
कुछ तूफ़ान जमीं से हारे, कुछ क़तरे तूफ़ान हुए

कितना बेबस कर देती है, शुहरत की जंजीरें भी
अब जो चाहे बात बना ले, हम इतने आसान हुए

ऐ सबा तू तो उधर ही से गुजरती होगी
उस गली में मेरे पैरों के निशाँ कैसे हैं

जो घर से निकली थी पत्थर निचोड़ने के लिए
वो आर्ज़ू कहीं सहरा में मर गयी होगी

इन आँखों पर क्या बीती है, ये इनको मालूम नहीं
हम चुपचाप खड़े हैं अपने ख्वाबों की ताबीरों में

ये दरो-बाम समझते नहीं अब मेरी जबाँ
अपने घर में कभी मेहमाँ न हुए थे सो हुए

प्यासी रातें भी काटी हैं, दिन भी गुजारे उलझन के
जेठ से हमने हार न मानी, घर न गये हम सावन के

ये लोग आज जो मिलते है अजनबी की तरह
ये लोग खुद कभी मेरे क़रीब आये थे

हाय इस परछाइयों के शहर में
दिल-सी एक जिन्दा हक़ीक़त खो गयी

जमजम और गंगाजल पी कह कौन बचा है मरने से
हम तो आँसू का यह अमृत पीके अमर हो जायेंगे

बड़े गजब का अँधेरा था दिल की राहों में
जले हैं खुद तो ये परछाइयाँ निकाली हैं

जरूरतों के अँधेरे में डूब जाती हैं
न जाने कितनी जमीनें जो आस्माँ होतीं

छूटकर तुझसे अपने पास रहे
कुछ दिनों हम बहुत उदास रहे

बाजार में जिस जाँ अब फूलों की दुकानें हैं
हमने वही खोली थी ज़ख्मों की दुकाँ पहले

सुकूँ मिले न मिले, रोशनी मिले न मिले
कोई वतन में गरीबुल-वतन नहीं होता

क्या चीज हैं यह पाँव कि बैठे हों तो थक जायें
क्या चीज है यह दिल कि बहलता नहीं घर पर

हम अकेले कहाँ-कहाँ जायें
एक हम सैकड़ों बयाबाँ हैं

हर गागर में प्यास भरी थी, हर तालाब में बालू
राही हर पनघट पर पहुँचा प्यासा ही लौट आया

जिन्दगी आ जा कभी मेरी तरफ़
एक जमाने से तुझे देखा नहीं

सर हमारा कहीं नहीं झुकता
हमने यह रस्म ही उठा दी है

दरिया ने कहा कि प्यास क्या है
सहरा ने कहा, बता रहा हूँ

तुम्हीं क़रीब रहो, बस्तियाँ क़रीब नहीं
कहाँ हो मेरी सदाओ, बड़ा अँधेरा है

बिछड़ गयी मेरी परछाइयाँ अकेला हूँ
मुझे गले से लगाओ, बड़ा अँधेरा है

जो रास्ता मेरी मंजिल की सिम्त जाता हो
वो रास्ता न दिखाओ, बड़ा अँधेरा है

जहाँ मिले वहीं मुँहमाँगे दाम पर ले लो
कि जिन्दगी कभी अरजाँ, कभी गेराँ न मिली

जख्मी है, बहुत थकी हुई है
जो सुब्ह अभी-अभी हुई है

जंजीरों में जान पड़ी, खूँ दौड़ा
मौसमे-गुल ने इतनी देर लगायी

आँखें वीरान हैं, होंटों पे कोई बात नहीं
यह अगर हम हैं तो तस्वीर किसे कहते है

चाहे जिस शान से निकलें सूरज
शाम होती है तो ढल जाते हैं

दोस्तो प्यास बुझानी हो तो एक बात सुनो
आवो, चुपचाप कही बैठके आँसू पी लें

मौजें उठ-उठके उसे ढूँढ रही हैं कब से
देखने आयी थी एक बूँद कि दरिया क्या है

कोई आहट कोई आवाज, कोई शोर नहीं
मेरे ही घर की तरह चाँद में रक्खा क्या है

थका हुआ ये बदन, टूटते हुए ये खयाल
ये शाम घर के सिवा और हम कहाँ करते

बिकने को तो हर शय बिकती है लेकिन कोई हमको बतलाये
क्या अह्ले-जुनूं भी आते हैं बिकने को इन्ही बाज़ारों में

वैसे ही जर्द-रु मकान, वैसे ही नीम-जान लोग
जैसे कि मेरे साथ-साथ शहर मेरा सफर में है

पी गयी हमको ये हालात की फैली हुई रेत
हम भी निकले थे कभी झूमते दरिया की तरह

यही सहरा कि जिसे शहर कहा जाता है
इसी सहरा में हमारा भी मकाँ है लोगो

अच्छा है ये खूं बहने दो, दश्त पे रंग आ जायेगा
दिल के जख्म पर कौन लगाये माँग के मरहम लोगों से

अपनी परछाई के वन में आदमी है आज भी
ज़िन्दगी इस याह्‌र में तेरी कमी है आज भी

जिन राहों पर हमने अब तक गीत वफ़ा के गाये
उन राहों से कैसे गुजरें अपने सर निहुड़ाये

हम भी कैसे दीवाने हैं किन लोगो में बैठे
जान पे खेलके जब सच बोले, तब झूठे कहलाये

हम भी हैं बनवास में लेकिन राम नही हर राही आये
अब हमको समझाकर कोई घर ले जाये

खुलते किसी पे कैसे दिलों के मुआमलात
हर शख्स बन्द-बन्द है बाज़ार की तरह

शाम तक सुब्ह से जी ऊब गया
दिल भी सूरज की तरह डूब गया

सुन्सान घर में जीने का सामान लाइए
बाजार जाइए, कोई मेहमान लाइए

दिल के खबरनामे में है एक वहशतनाक खबर
दिन को भी चोटें आयी हैं, घायल रात हुई

थकन

कैसा मौसम है,
कहीं दूर तलक सुब्ह न शाम
घास की नर्म हथेली पे शबनम है, न कोई मोती
एक जमाना हुआ फूलों को हँसी आये हुए
दिल को घबराये हुए
वक़्त गुमसुम-सा खड़ा है पसे-दीवारे-चमन
क्या कहे
क्या न कहे
दर्द आया है अयादत के लिए
दिल की पट्टी से लगा बैठा है
कैसा मौसम है,
कहीं दूर तलक धूप न छाँव
दूर होता ही चला जाता है वह नींद का गाँव
जिसके सपनों के मुहल्ले में बड़ी धूम से रात आयी है
चाँदनी लेके बरात आयी है

साअतें हँसती हुई
भागकर जाती हैं दालानों से दरवाजों तक
साअतें हँसती हुई पंजों के बल उठती हैं
उठती हैं, थक जाती हैं
शोर के कन्धे से टिक जाती हैं

पर ये बेदर्द गली

सामनेवाली ये बेदर्द गली
भीड़ में गुम है कहीं
नज़र आती ही नहीं
हाय दिखलाती नहीं एक झलक
साअतें हँसती हुई भागकर जाती हैं दालानों से दरवाजों तक

मैं भी निकला था यही सोचके घर से कि वहीं जाऊँगा
उसी मजमे में खपा दूँगा मै अपना भी वजूद
तोड़कर सारे हुदूद
माथे पर गर्दे-सफ़र,
सीने में दर्द की सौगात लिये
हसरते-दीद लिये
शौके-मुलाक़ात लिये

पर ये सुनसान बयाबाँ तो मंज़िल है, न घर
इस जगह मेरे सिवा कोई नही
न ख़िरद है, न जुनूँ
अपनी रूदादे-सफ़र किससे कहूँ
न कहीं धूप न छाँव
किसी दलदल में फँसे जाते हैं आवाज़ के पाँव
दूर होता ही चला जाता है वह नीद का गाँव
जिसके सपनों के मुहल्ले में बड़ी धूम से रात आयी है
चाँदनी लेके बरात आयी है

बम्बई १९७३

महाकाव्य : १८५७ का एक हिस्सा

मैं हूँ अब एक लफ़्ज़

वतन से दूर, बहुत दूर, क्या मक़ाम है यह
ख़याल चाहे तो यह फ़ासला तमाम न हो
है नाउमीदी का सहरा हदे-निगाह तलक
वो दिन पड़ा है कि जिस दिन की कोई शाम
न हो

किसे ख़बर कि है अब क्या कबाये-दोस्त का रंग
हवाओं में कहीं ख़ुशबूये-ज़ुल्फ़े-यार नहीं
ख़याले-वस्ल कुजा, दर्दे-हिज्रे-यार कुजा
ख़ुद अपने दिल के धड़कने पर एतबार नहीं
निगाहें चुप हैं, गरीबान कुछ नहीं कहता
किसी बहार का अब जैसे इन्तिजार नहीं

दयारे-ग़ैर में कौन आयेगा इसे सुनने
फ़सानये-ग़मे-पिनहाँ तमाम तो होगा
ये कौन है कि सरे-राह भी नही आता
किसी के वास्ते कोई पयाम तो होगा

ये झुर्रियों के दरीचों में बैठी महरूमी
हर एक जुम्बिशे-लब में कई फ़साने से
ये कौन शख़्स है आख़िर, कोई बताये मुझे
कसीदे झाँक रहे हैं खुले दरीचों से

न इसके लब पे हँसी है, न आँख में आँसू
न इसके जेहन में इमरोज है, न फ़र्दा है

मगर ये शक्ल तो देखी हुई सी लगती है
सवाल ये है इसे किस जगह पे देखा है

ए दीवाने-खास के मरमर,
ए मरमर की चाँदनी में खिलनेवाले पत्थर के शगूफ़ो,
कुछ तो बोलो
मेरे शेरों के प्याले में
तुम अपनी इस खामोशी का जहर न घोलो
यह भारी जूते कैसे हैं
संगीनें बन्दूकें क्यों हैं
जौक़ कहाँ हैं
गालिब की आवाज कहाँ है
मोमिन के अश'आर का मद्धम साज़ कहाँ है
वह दिल्ली की सुब्ह कहाँ है
वह शीराजी शाम कहाँ है
उर्दू की गुलफ़ाम कहाँ है

ए दीवाने-खास के मरमर,
इन गोरे चमड़ेवालो को
अब से पहले भी देखा था
लेकिन यूँ तो नहीं देखा था
शाहे-जहाँ के तख्त पे गोरे ?
क़िस्सा क्या है ?
इस दीवाने-खास में कल तक
शाम आयी तो एजाजत लेकर
सुब्ह उठी तो रुख़सत लेकर
क़िस्सा क्या है
आज ये गोरे
इस दीवाने-खास में ऐसे घूम रहे है
जैसे यह एक राहगुजर है

ए शायर हम कैसे बोलें
कहना मानो तुम भी न बोलो
मुजरिम मुन्सिफ बन बैठे हैं
और वो देखो
उस जानिब गरदन नेहुड़ाये, कौन खड़ा है
अपने घर में,
अपने वतन में,
मुजरिम की मानिन्द अकेला कौन खड़ा है
शायर,
तुम टहल जावो यहाँ से
वरना तुमको भी ये अदालत आज शहादत देने पर मजबूर
करेगी

आज यहाँ पर गद्दारी तमग़े पायेगी
और शिराफत—
और सिदाकत,
जुर्मे-हक करने की जुरअत,
कालेपानी से सूली तक,
काँटों के फैले जंगल में,
आवलों की जंजीरें पहने,
तनहा,
नगे पाँव फिरेगी
शायर, क्या तुम तमग़ा लोगे
या काँटों के जंगल में तुम आबलों की ज़ंजीरें पहने,
तनहा,
नंगे पाँव चलोगे ?

ए दीवाने-खास के मरमर,
तमगों से मुझको क्या मतलब
हम तो काँटों के जंगल में,
आबलों की ज़ंजीरें पहने,
तनहा चलने के आदी हैं
—हाँ ये तमाशा देखूँगा मैं

वक़्त आने दे
वोलूँगा मैं
आनेवाली नस्लों को यह क़िस्सा कहके झिंझोड़ूँगा मैं
लेकिन—ये वूढ़ा क़ैदी क्या सोच रहा है ?

कैदी खुद अपने ही घर में,
अपने वतन में,
एक जानिव गरदन नेहुड़ाये,
मुजरिम की मानिन्द खड़ा है
सामने एक लम्वा जंगल है,
हद्दे-नजर तक,
कालेपानी से सूली तक,
काँटों का लम्वा जंगल है
वूढा क़ैदी
काँटों के जंगल से डरकर
अपनी याद के शीशमहल की जानिव भागा ही जाता है
वूढ़े क़ैदी,
पागल मत बन
काँटों के इस जंगल से अव तेरा निकलना नामुमकिन है
नाहक़ थकने से क्या हासिल
यादों का वह शीशमहल भी,
अब जैसे एक लाल क़िला है ।

लेकिन
ये वूढ़ा क़ैदी तो यादों के उस शीशमहल की जानिब भागा
ही जाता है

शायर, इसको जाने ही दो
खुद ही थककर लौट आयेगा

दिल्ली मे एक हंगामा है
मेरठ के जाँवाज़ आये हैं
मैं पहले तो डर जाता हूँ

मैं बूढ़ा हूँ
बरसों की भारी जंजीरें मेरे जिस्म को तोड़ चुकी हैं
मैं कोई इन्सान नहीं हूँ
मैं भुर्री का ढेर हूँ
मुझमें,
शायद आर्ज़ू करने की ताक़त भी नहीं है
जब ही तो मैं मेरठ के जांबाज़ों की आवाज़ें सुनकर डर जाता हूँ
मेरी ज़ईफ़ी कहती है :
'दीवाने हो तुम,
ख्वाब न देखो—
मैं कहती हूँ, ख्वाब न देखो'
अच्छा,
तो फिर मेरठ के इन जांबाज़ों से तू ही बढ़कर इतना कह दे
मेरे दिल के दरवाज़े पर दस्तक मत दें
दिल के दरवाजे इतने मज़बूत नहीं हैं,
—खुल जायेंगे
और ये सच है
दिल के दरवाज़े इतने मज़बूत नहीं हैं,
—खुल जाते हैं
ख्वाबों का झक्कड़ आता है
अब मैं एक सूखी पत्ती हूँ
ख्वाबों की इस तेज़ हवा में—उड़ जाता हूँ

मैं कोई इन्सान नही हूँ
मैं सूखी पत्ती भी नहीं हूँ
मैं तो अब एक लफ़्ज़ हूँ और लोगों की जबां पर चढ़ जाता हूँ
मैं हूँ अब एक मुल्क की आजादी का नश्शा,
बस मैं चढ़ता ही जाता हूँ
मैं एक क़ौमी गीत हूँ और हर-हर घर में गाया जाता हूँ
एक सनम हूँ
जेहन के बुतख़ाने मेरे हैं
जामे-मय हूँ

दिल के पैमाने मेरे है
सुब्हे-वतन हूँ
सारे दीवाने मेरे हैं
फ़स्ले-गुल हूँ
या उम्मीदे-फ़स्ले-गुल हूँ
सारे अफ़साने मेरे हैं
लाल क़िला फिर लाल क़िला है
दिल्ली फिर नजदीक आयी है
फिर दीवाने-ख़ास वही है
फिर मरमर में जान पड़ी है
फिर फ़र्मान चले आते हैं
उन पर मेरी मोहर लगी है
फिर दिल्ली के हर-हर घर में
ईद का दिन है——
दीवाली है
दीवानों ने
अपने और गोरों के ख़ूँ से
जी भरके होली खेली है
बस पैग़ाम चले आते हैं
इस बस्ती की आँख खुली है
वो बस्ती बेदार हुई है
कलकत्ते से पेशावर तक
आज़ादी की आग लगी है
जमुना ने अँगड़ाई ली है
गंगा भी तलवार बनी है

'ये एक पेनशन-ख्वार था, लेकिन
इसने बग़ावत के पौधे को
अपने दिल की क्यारी दे दी'

'जी हाँ,
मुहर तो मुलज़िम की है

इस तहरीर से वाक़िफ़ हूँ मैं
यह तहरीर भी मुलज़िम की है'

बूढ़ा क़ैदी लौट आता है

बूढ़े कैदी,
मैंने कहा था
नाहक़ थकने से क्या हासिल
पागल मत बन
काँटों के इस जंगल से अब तेरा निकलना नामुमकिन है

बूढा क़ैदी देख रहा है
जान के डर से
या जागीरों की लालच में
कैसे-कैसे लोग आये है

बूढ़ा क़ैदी डर जाता है
ग़द्दारी के तूफ़ाँ में यादों का तिनका मिल जाता है
हर जानिब एक शोर है, दिल में सन्नाटा है

दिल्ली के मासूम बदन पर
हर दरवाजा,
अब एक गहरा जख़्म है जिससे ख़ूँ बहता है
तोपों की आवाज़ क़रीब आती जाती है
हर-हर लमहा मेरे कान में चीख़ रहा है :
'हार गये तुम'
'हार गये तुम'
'हार गये तुम'
मैं दीवाने-खास में बैठा सोच रहा हूँ
क्या यह सच है
हार गया मैं ?
—हार गये हम ?

'इसने ख्वावे हुकूमत देखा'
'हाँ, यह मुहर भी मुलज़िम की है'
'यह तहरीर भी मुलज़िम की है'

यादों के उस शीशमहल तक दूर से आवाज़ें आती हैं
—पास से आवाज़ें आती हैं
तेज़ धमक से
छन-छन, छन-छन
कितने शीशे गिर पड़ते हैं

शीशों के रेज़ों से बचता
तोपों बन्दूकों से बचता
अपनों की लाशों से बचता
दिल्ली की चीखों से बचता
वह दादा की क़ब्र की जानिब चल पड़ता है

मैं दादा की क़ब्र पे बैठा सोच रहा हूँ
अब क्या होगा
छोटे-छोटे लाखों नेज़े
मेरे जिस्म पे दौड़ रहे है
और उम्मीद बदन की हर-हर सिलवट में छिपती फिरती है
नाउम्मीदी चोर बनी है
मैं हसरत से,
बैठा-बैठा,
उम्मीद और नाउम्मीदी की आँखमिचौली देख रहा हूँ

'मेरी एक गुज़ारिश सुनिए
अब भी वक़्त है
हिम्मत कीजे
दिल्ली हार गये हैं तो क्या
सारा हिन्दुस्तान है दिल्ली'

बख़्त[1] ये कहता ही जाता है
बख़्त है लेकिन एक सिपाही, वह क्या जाने
मैं दादा की क़ब्र पे बैठा,
उम्मीद और नाउम्मीदी की आँखमिचौली देख रहा हूँ

वो कहता है : जल्दी कीजे
मैं कहता हूँ : क्या तुम बिलकुल भूल गये हो, बूढ़ा हूँ मैं ?
झुर्री की भारी जंजीरों में किस हद तक जकड़ा हूँ मैं ?
वो कहता है : चलिए, वक़्त बहुत ही कम है
अब भी लड़ाई हो सकती है
अब भी हम एक फ़ौज हैं, लड़कर मर सकते हैं
मैं कहता हूँ : हां, यह सच है
अब भी लड़ाई हो सकती है
लेकिन मैं दिल्ली को छोड़के कैसे जाऊँ
जामा मस्जिद के कुंगूरे गिला करेंगे
लाल क़िले की दीवारें फ़र्याद करेंगी
दादा की यह क़ब्र अकेली रह जायेगी
मुझको छोड़ो
मैं बूढ़ा हूँ
लम्बे सफर में जितना बोझ भी कम हो उतना ही अच्छा है
तुम इन नंगी तलवारों को लेकर जाओ
तुम अपने इन जीदारों को लेकर जाओ
मेरा क्या है
मैं बूढ़ा हूँ
चन्द दिनों में मरना ही है
दिल्ली ही में मर जाऊँगा…

वो फिर मुझको समझाता है
मैं फिर उसको समझाता हूँ
—मैं उसको समझा लेता हूँ

---

१. जनरल बख़्त खां

अब, बस मैं हूँ
घरवाले हैं
गोरों का पैग़ाम आया है
जाँबख़्शी के ख़्वान में ज़िल्लत का तुहफ़ा है
लेकिन अब चारा ही क्या है
और कोई सूरत भी नहीं है
जाँबख़्शी के ख़्वान से ज़िल्लत का यह तुहफा लेना होगा
हाँ, ये ज़हर तो पीना होगा
कुछ दिन यूँ भी जीना होगा
—कुछ दिन तो अब जीना ही है

मैं दरवाज़े तक आता हूँ
घिर जाता हूँ
ज़िल्लत के नशतर झुर्री की हर तह में उतरे जाते हैं
इस मजमे में कोई मेरा दोस्त नहीं है
मैं भी किसी का दोस्त नहीं हूँ
जिन सड़कों ने मुझसे वफ़ा का अहद किया था
वह सड़कें वीरान पड़ी हैं
वह सड़कें वेजान पड़ी हैं
हर जानिब एक हू का आलम
हर जानिब एक सन्नाटा है
क्या इस दिल्ली शहर में अब बच्चे भी नहीं हैं
जो इन बातों से वेपरवा
एकदम सड़कों पर आ जायें
ज़ोर से हँस दें
चीखके रो दें।
कोई दरीचा ही खुल जाये

ए दिल्ली तू जैसी भी हो
मैंने तुझसे प्यार किया है
मैंने तुझको छोड़ने से इन्कार किया है
मैं इन अंग्रेज़ों का नहीं—तेरा क़ैदी हूँ

'यह मुजरिम है······'

आवाज़ें नज़दीक आती हैं
बूढ़ा क़ैदी चौंक उठता है
यादों के उस शीशमहल से लौट आता है
यादों के उस शीशमहल तक कांटों का जंगल फैला है

बूढ़े क़ैदी,
मैंने कहा था
नाहक़ थकने से क्या हासिल
पागल मत बन
कांटों के इस जंगल से अब तेरा निकलना नामुमकिन है

किसे खबर कि अब है क्या क़बाये-दोस्त का रंग
हवाओं में कहीं खुशबूये-जुल्फ़े-यार नहीं
खयाले वस्ल कुजा, दर्दे-हिज्रे-यार कुजा
खुद अपने दिल के धड़कने पे एतबार नहीं
निगाहें चुप हैं, गरीबान कुछ नहीं कहता
किसी बहार का अब जैसे इन्तिजार नहीं

वतन से दूर, बहुत दूर, क्या मकाम है ये
खयाल चाहे तो ये फ़ास्ला तमाम न हो
है नाउमीदी का सहरा हदे-निगाह तलक
वो दिन पड़ा है कि जिस दिन की कोई शाम न हो

अब लुत्फ़ हिज्र में, न कशिश इन्तिजार में
दिल पर खिज़ाँ ने ज़ख्म लगाया बहार में
कितना है बदनसीब 'ज़फ़र', दफ़्न के लिए
दो गज़ ज़मीन भी न मिली कूये-यार में

अलीगढ़ १९५८

• • •